

## पितृभ्यः पिण्डदः स्यात्

डॉ. विश्वावसु गौड,

बी.ए.एम. एस. (आयुर्वेदाचार्य)

आयुर्वेद-वाचस्पति (एम.डी. आयुर्वेद) असिस्टेंट प्रोफेसर, स्वस्थवृत्त विभाग

एम.जे.एफ. आयुर्वेद महाविद्यालय हाड़ोता, चौमूँ, जयपुर (राजस्थान)

एवं

(म.म. राष्ट्रपति-सम्मानित) प्रो. वैद्य बनवारी लाल गौड़

पूर्व निदेशक - राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान जयपुर

पूर्व कुलपति - डॉ. एस.आर. राजस्थान आयुर्वेद विश्वविद्यालय जोधपुर

भारतवर्ष में अपने पूर्वजों को श्रद्धापूर्वक स्मरण करने की परम्परा प्राचीन काल से ही श्राद्ध के रूप में प्रचलित है ऐसा प्राचीन ग्रन्थों से, पुराणों से एवं स्मृतियों से सङ्केतित होता है। आयुर्वेद में भी प्राचीन संहिताओं में श्राद्ध का स्वरूप सङ्केतित है। यद्यपि चरकसंहिता एवं सुश्रुतसंहिता में श्राद्ध शब्द का उल्लेख एवं इसमें की जाने वाली प्रक्रियाओं का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं है लेकिन पितरों को नियमित रूप से विधिपूर्वक पिण्डदान करने का स्पष्ट निर्देश है। इसके अतिरिक्त पितरों के रुष्ट होने या क्रुद्ध होने से मानसिक विकृतियों की उत्पत्ति मानी गई है एवं उपहार, प्रायश्चित्त, देव- गो-ब्राह्मणपूजा एवं यथोचित रूप से उपयुक्त व्यक्ति को भोजन करवाने से मानसिक तुष्टि की प्राप्ति होने के साथ-साथ देवताओं एवं पितरों इत्यादि के प्रसन्न होने का सङ्केत भी है तथा इससे मानसिक विकृतियों की निवृत्ति भी होती है। आयुर्वेद के ग्रन्थ होने के कारण इनमें इतना साङ्केतिक विवरण होना ही पर्याप्त है।

आयुर्वेदीय संहिताओं में प्रेतयोनि को भी स्वीकार किया है और इसके बाद की स्थिति ही पितरों की स्थिति मानी गई है। प्रेत का स्वरूप श्रेष्ठ नहीं माना गया, लेकिन पितरों को पूज्य माने जाने के पर्याप्त उल्लेख आयुर्वेदीय संहिताओं में है।

चरकसंहिता में सदृत्त के विभिन्न प्रकार निर्दिष्ट किए गए हैं, उनमें भोजनसम्बन्धी सदृत्त का निर्देश करते समय विस्तारपूर्वक अनेक प्रक्रियाओं, विधियों, उपक्रमों और कर्मों का निर्देश किया है। उनमें देवताओं को भोग लगाने के साथ-साथ पितरों को पिण्डदान करने का भी निर्देश है इसमें महर्षि चरक कहते हैं कि-..... पितृभ्यो नादत्त्वा-----भक्षयेत् (पितृभ्यः अदत्त्वा न भक्षयेत्)। यह सम्पूर्ण प्रसङ्ग निम्नानुसार यहाँ उद्धृत किया जा रहा है, यथा-

नारत्नपाणिर्नास्नातो नोपहतवासा नाजपित्वा नाहुत्वा देवताभ्यो नानिरूप्य पितृभ्यो नादत्त्वा गुरुभ्यो नातिथिभ्यो नोपाश्रितेभ्यो नापुण्यगन्धो नामाली नाप्रक्षालितपाणिपादवदनो नाशुद्धमुखो नोदङ्मुखो न विमना नाभक्ताशिष्टाशुचिक्षुधितपरिचरो न पात्रीष्वमेध्यासु नादेशे नाकाले नाकीर्णे नादत्त्वाऽग्रमग्नये नाप्रोक्षितं प्रोक्षणोदकैर्न मन्त्रैरनभिमन्त्रितं न कुत्सयन्न कुत्सितं न प्रतिकूलोपहितमन्नमाददीत, न पर्युषितमन्यत्र मांसहरितकशुष्कशाकफलभक्ष्येभ्यः, नाशेषभुक् स्यादन्यत्र दधिमधुलवणसक्तुसर्पिभ्यः, न नक्तं दधि भुञ्जीत, न सक्तूनेकानश्रीयान्न निशि न भुक्त्वा न बहून् द्विर्नोदकान्तरितात्, न छित्त्वा द्विजैर्भक्षयेत्॥ (चरक सूत्र 8/20)

इतना अवश्य है कि चरकसंहिता एवं सुश्रुतसंहिता में श्राद्ध शब्द का उल्लेख नहीं है लेकिन उनके व्याख्याकारों चक्रपाणि एवं डल्हण एवं अरुण दत्त आदि ने श्राद्ध का उल्लेख किया है, परंतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अष्टाङ्गहृदय तथा अष्टाङ्गसंग्रह में श्राद्ध शब्द का उल्लेख है, यद्यपि उसे अन्य प्रसङ्ग में प्रयुक्त किया गया है लेकिन उसका भाव दान इत्यादि करने के अर्थ में ही गृहीत होता है। विभिन्न पुराणों में श्राद्ध शब्द का एवं उसकी विधि का भी उल्लेख है। स्कन्दपुराण में इस शब्द का विश्लेषणपरक उल्लेख उपलब्ध है, अन्य पुराणों में भी किसी न किसी रूप में श्राद्ध का उल्लेख है। ब्रह्मपुराण में भी विधिपूर्वक श्राद्ध करने का उल्लेख है, यथा-

देशे काले च पात्रे च श्रद्धया विधिना च यत् ।

पितृनुद्दिश्य विप्रेभ्यो दत्तं श्राद्धमुदाहृतम् ॥ ( ब्रह्म पुराण)

आयुर्वेद में पितरों का सम्मानपूर्वक उल्लेख है और सर्वत्र ही इनका सम्बोधन बहुवचन में हुआ है तथा इनकी पूजा-अर्चना एवं उपहार का अनेक स्थलों पर स्पष्टतः उल्लेख या सङ्केत है। यह उनके प्रति श्रद्धा का द्योतक है।

चक्रपाणि ने नान्दीमुख श्राद्ध का उल्लेख किया है, चरकसंहिता में गर्भिणी स्त्री के सूतिकागार में प्रवेश करने के बाद तथा प्रसव से पूर्व शान्तिहोम इत्यादि करने का विधान है, वहाँ कहा गया है कि- “नान्दीमुखानि च फलानीष्टानि दत्त्वोदकपूर्वमासनस्थेभ्योऽभिवाद्य पुनराचम्य स्वस्ति वाचयेत्।” इसका विश्लेषण करते हुए चक्रपाणि कहते हैं कि-शान्तिं कृत्वेति शान्तिहोमं कृत्वा। नान्दीमुखानि च फलानि नान्दीमुखश्राद्धाद्य हितानि फलानि; किंवा नान्दी मुरजः, तन्मुखाकृतीनि फलानि खर्जूरादीनि। पुण्याहशब्दो मङ्गलशब्दः। प्रदक्षिणं यथा भवति तथा गोब्राह्मणं समनुवर्तमाना। (चरक. शारीर 8/35 चक्रपाणि)

सुश्रुतसंहिता में अन्नपानविधि के वर्णन के क्रम में विभिन्न प्रकार के शाक निर्दिष्ट किए गए हैं, उनमें कालशाक भी है जिसकी व्याख्या करते हुए डल्हन कहते हैं कि कालशाक श्राद्ध के लिए योग्य शाक है यथा- कालशाकं कालियाशाकं श्राद्धार्हम्। (सुश्रुत. सूत्रस्थान. 46/ 272 पर डल्हन)। चक्रपाणि 11वीं शताब्दी के व्याख्याकार हैं एवं डल्हन 12वीं शताब्दी के व्याख्याकार हैं इससे इस बात का सङ्केत मिलता है कि 11वीं शताब्दी के पहले से ही श्राद्ध का परम्परा के रूप में प्रचलन था। इसके पहले भी नवमी शताब्दी के व्याख्याकार जेज्जट ने पितरों की मुक्ति के प्रसङ्ग का उल्लेख किया है जिसमें जरत्कारु के कथानक का सङ्केत है, वे कहते हैं कि-

व्याख्याकार जेज्जट ने पुत्र के आयतन (हेतु) वाजीकरण में पुत्र एवं पुत्री दोनों को ही स्वीकृत किया है, अतः पुत्र शब्द यहाँ साङ्केतिक है जिसका तात्पर्य केवल सन्तति उत्पादन ही (पुत्र एवं पुत्री दोनों ही) मानना चाहिए। जेज्जट कहते हैं कि-

पुत्रस्यायतनं वाजीकरणमित्यनेकान्तमुपयुक्तवाजीकरणेभ्योऽपि स्र्युत्पत्तेः। अत्रापि पूर्व एव समाधिः। अथवा वाजीकरणेन शुक्रवृद्धिस्तद्वृद्ध्या च पुत्रोत्पादः। पुत्रप्राधान्याच्चैवमभिधानं दुहितृप्राप्तावपि धर्मादयो भवन्ति। तथा हि स्मरणं वचो- “नाग्निचिन्नरकं यायात् न सत्पुत्री न कुत्रचित्। (सत्यवादी तथा) जन्तुर्योऽद्भिः कन्यां प्रयच्छति ॥ किञ्च पुत्रिकापुत्रा अप्यभ्युदयहेतवः।” तथा ह्यैतिह्यं “ययातिः किल स्वर्गात् परिच्युतः पुत्रिकापुत्रैरष्टकादिभिः स्वर्ग एव पुनः प्रापितः” इति। एवं जरत्कारोरेव मे पुत्राः पुत्रिकापुत्रा इति”। तस्मादुणवदपत्यलाभाद्धर्मादयः तस्य च पुत्रस्य हेतुर्वाजीकरणमिति तदेवेष्टव्यम्। (च.चि. 2/3 जेज्जटः)।

हिंदूधर्मग्रन्थों में जरत्कारु की कथा दन्तकथा के रूप में प्रचलित है, इसके सङ्केत महाभारत में, देवीभागवतपुराण में एवं ब्रह्मवैवर्तपुराण में मिलते हैं। पितरों की मुक्ति के लिए इन्होंने नागराज वासुकी की बहन मनसा से विवाह किया। मनसा का एक नाम जरत्कारु भी था। इस सम्पूर्ण प्रसङ्ग को केवल साङ्केतिक रूप में संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है-

जरत्कारु ऋषि बालब्रह्मचारी थे लेकिन अपने पितरों के उद्धार के लिए उन्हें सन्तति उत्पादन के लिए वृद्धावस्था में विवाह करना पड़ा, जिस से विवाह किया वह नागराज वासुकी की बहन थी उसका नाम भी जरत्कारु ही था। यह एक लंबी कथा है पर संक्षेप में इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि जरत्कारु ऋषि भी अपने पितरों की मुक्ति के लिए संतति उत्पादन हेतु विवाह करना चाहते थे और वासुकी नाग भी यह जानते थे की उनकी बहन से उत्पन्न संतति ही उनके (वासुकी के) पितरों की मुक्ति करवा सकती है, अतः वे भी चाहते थे कि किसी श्रेष्ठ ऋषि से उनकी बहन का विवाह संपन्न हो जाए। विवाह सम्पन्न होने के बाद यथासमय उनके एक पुत्र का जन्म हुआ जिसका नाम आस्तीक रखा गया। जिसने पितृ वंश (पुत्र-पौत्र के रूप में) एवं मातृवंश (पुत्रिकापुत्र के रूप में) दोनों ही वंशों के पितरों का उद्धार किया। अतः केवल पुत्र से ही नहीं अपितु पुत्री के पुत्र से भी पितरों का उद्धार माना गया है, यह एक ऐतिहासिक पौराणिक कथा है। अतः पुत्र शब्द से पुत्र और पुत्री दोनों का ही ग्रहण करने की परम्परा तथा पुत्री को भी उतना ही महत्त्व देने की परम्परा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। इस प्रसङ्ग से एक बात और स्पष्ट हो जाती है कि प्राचीन काल से ही पितरों की मुक्ति के लिए अग्रिम सन्तति अपेक्षित मानी गई है। इसके लिए पुत्र शब्द का प्रयोग होता आया है, वस्तुतः यह पुत्र शब्द पुत्र एवं पुत्री दोनों के लिए ही है।

पितरों के अस्तित्व का सीधा प्रभाव मन पर स्वीकार किया गया है। इनके प्रसन्न होने पर मन प्रसन्न रहता है तथा इनके रुष्ट होने पर मन खिन्न एवं विकारग्रस्त हो सकता है। व्यावहारिक रूप से इसे यों भी स्वीकार किया जा सकता है कि पितरों में श्रद्धाभाव प्रकट करने पर मन प्रसन्न रहता है, अतः अपने पूर्वजों को किसी भी रूप में स्मरण करते हुए व्यक्ति भावात्मक रूप से उनसे सर्वदा सम्पृक्त रहता है। उनके गुणात्मक स्वरूप का अनुकरण करने का प्रयत्न करता है तथा उन्हें अग्रिम सन्तति में सङ्क्रान्त करते हुए गौरवान्वित भी होता है। इस तरह के भावात्मक स्वरूप का सर्वदा मन से सम्बद्ध होना स्वाभाविक ही है, श्राद्ध इन भावों को सतत बनाए रखने में योगदान करता है। इन भावों को अभिव्यक्त करने का माध्यम श्राद्ध है।

आयुर्वेदीय संहिताओं में अनेक स्थानों पर पितरों का उल्लेख देव, गुरु, ब्राह्मण एवं सिद्धाचार्य आदि के साथ किया गया है, जो इनके पूज्य होने के स्वरूप को पूर्ण रूप से प्रमाणित करता है। श्रद्धा प्रकट करने के क्रम में पिण्डदान का स्पष्ट निर्देश है। जबकि देव, गो, ब्राह्मण आदि के साथ इनका उल्लेख एवं साथ ही ब्राह्मण इत्यादि को भोजन करवाने का निर्देश विभिन्न प्रसङ्गों में है। अतः श्राद्ध के क्रम में भोजन को भी जोड़ दिया जाना उपयुक्त ही प्रतीत होता है। परम्परागत रूप से देव, पितर इत्यादि की पूजा-अर्चना करना एवं उपहार प्रदान करना श्रेष्ठ माना गया है। इसके साथ-साथ उनके प्रति श्रद्धा प्रकट करने की एक प्रक्रिया भी निर्दिष्ट प्रतीत होती है। सद्वृत्त के प्रसङ्ग में अनेक उपक्रम एवं कर्म करणीय हैं जिनमें पितरों को पिण्डदान करना भी निहित है। इसे प्रतिदिन किए जाने का निर्देश है, यथा-

तद्ध्यनुतिष्ठन् युगपत् सम्पादयत्यर्थद्वयमारोग्यमिन्द्रियविजयं चेति; तत् सद्वृत्तमखिलेनोपदेक्ष्यामोऽग्निवेश ! तद्यथा- देवगोब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धाचार्यानर्चयेत्, अग्निमुपचरेत्, ओषधीः प्रशस्ता धारयेत्, द्वौ कालावुपस्पृशेत्, मलायनेष्वभीक्षणं पादयोश्च वैमल्यमादध्यात्, त्रिःपक्षस्य केशश्मश्रुलोमनखान् संहारयेत्, नित्यमनुपहतवासाः सुमनाः सुगन्धिः स्यात्, साधुवेशः, प्रसिद्धकेशः, मूर्धश्रोत्रघ्राणपादतैलनित्यः, धूमपः, पूर्वाभिभाषी, सुमुखः, दुर्गेष्वभ्युपपत्ता, होता, यष्टा, दाता, चतुष्पथानां नमस्कृता, बलीनामुपहर्ता, अतिथीनां पूजकः, पितृभ्यः पिण्डदः, काले हितमितमधुरार्थवादी, वश्यात्मा, धर्मात्मा, हेतावीर्ष्युः, फले नेर्ष्युः, निश्चिन्तः, निर्भीकः, ह्रीमान्, धीमान्, महोत्साहः, दक्षः, क्षमावान्, धार्मिकः, आस्तिकः, विनयबुद्धिविद्याभिजनवयोवृद्धसिद्धाचार्याणामुपासिता, छत्री दण्डी मौली सोपानत्को युगमात्रदृग्विचरेत्, मङ्गलाचारशीलः, कुचेलास्थिकण्टकामेध्यकेशतुषोत्करभस्मकपाल-स्नानबलिभूमीनां परिहर्ता, प्राक् श्रमाद् व्यायामवर्जी स्यात्, सर्वप्राणिषु बन्धुभूतः स्यात्, क्रुद्धानामनुनेता, भीतानामाश्वासयिता, दीनानामभ्युपपत्ता, सत्यसन्धः, सामप्रधानः, परपरुषवचनसहिष्णुः, अमर्षघ्नः, प्रशमगुणदर्शी, रागद्वेषहेतूनां हन्ता च॥ (चरक सूत्र 8/18)

इस इस सम्पूर्ण प्रसङ्ग को उल्लिखित करने का एक उद्देश्य यह भी है कि यहाँ बताए गए अनेक कार्य एक दूसरे से सम्बद्ध हैं तथा पितरों के लिए जो पिण्डदान बताया गया है, उसके साथ अनेक करणीय क्रियाएं या विधियाँ भी विभिन्न स्थलों पर सङ्केतित हैं, जिनका सबका समग्र रूप में एक विधि निर्धारित किए जाने जैसा स्वरूप

दृष्टिगत होता है | ऐसा करने पर शरीर एवं मन की पवित्रता, भावप्रवणता, श्रद्धा, निष्ठा आदि के साथ-साथ सामाजिक एवं पारिवारिक संबद्धता भी परिलक्षित होती है।

दिवंगत पूर्वजों के प्रति श्रद्धाभाव प्रकट कर व्यक्ति अपनी सन्तति को स्नेह की एक शृंखला में अनुस्यूत करने का प्रयत्न करता है तथा उनके सामने एक आदर्श भी प्रस्तुत करता है कि देव, गो, ब्राह्मण, गुरु, आचार्य, वृद्ध, असहाय आदि के साथ-साथ अन्य प्राणियों एवं वनस्पतियों में भी अपना स्नेहभाव एवं श्रद्धाभाव प्रकट कर उनसे अपनी सम्बद्धता को दृढ़ता प्रदान करता है। इन उपक्रमों को करने वाला व्यक्ति सर्वदा परोपकार एवं सत्कर्म करने वाला बनता है, पापकर्म से मन को दूर रखने में इस तरह के कर्म अत्यन्त प्रभावी होते हैं, इसीलिए इसे सद्वृत्त कहा गया है।

सुश्रुतसंहिता में ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की प्रक्रिया में यह स्पष्ट कहा गया है की पितरों के हित के लिए कर्म करने के लिए विवाह की प्रक्रिया पमावश्यक है, वे कहते हैं कि-

अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय षोडशवर्षा पत्नीमावहेत् पित्र्यधर्मार्थकामप्रजाः प्राप्स्यतीति |  
(सुश्रुत. शारीर. 10/53)

इसकी व्याख्या में डल्हण कहते हैं कि-

आवहेत् विदध्यात् | किमर्थमित्याह- पित्र्येत्यादि | पितुर्हितं कर्म पित्र्यं श्राद्धदानादि, धर्मः श्रुतिस्मृतिविहितं यज्ञाद्यनुष्ठानम्, अर्थः सुवर्णादिः, कामः स्वेषु विषयेष्विन्द्रियाणामानुकूल्यतः प्रवृत्तिः, प्रजाः पुत्रपौत्रादयः | (डल्हण ) इसका तात्पर्य यह है कि विवाह करने के बाद जिस सन्तति का उत्पादन किया जाता है, वह पितरों के हितकर्म श्राद्धदान इत्यादि करके अपने पितृ ऋण से मुक्त होती है।

अष्टाङ्गहृदय में श्लेषप्रकृति के वर्णन क्रम में श्राद्ध शब्द का प्रयोग हुआ है, यथा –

श्राद्धो गम्भीरः स्थूललक्षः क्षमावा-

नार्यो निद्रालुर्दीर्घसूत्रः कृतज्ञः॥

ऋजुर्विपश्चित्सुभगः सुलज्जो | (अष्टाङ्गहृदय. शारीर.3/101-102)

यहाँ प्रयुक्त श्राद्ध शब्द का तात्पर्य दान इत्यादि में श्रद्धावान् होना है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि श्लेषप्रकृति वाले व्यक्ति सौम्य, शांत, गंभीर एवं श्राद्ध इत्यादि प्रक्रिया करने वाले होते हैं। इस श्राद्ध शब्द को विश्लेषित करते हुए व्याख्याकार अरुणदत्त कहते हैं कि- दीर्घदर्शी-भावि कार्यं पश्यति, इदं कुर्वत इदमवश्यं सम्पद्यत इति। वदान्यो-वल्गुभाषी दाता च। श्राद्धो-दानादौ श्रद्धावान्। गम्भीरो-महाचित्तः। स्थूललक्षो-भूरिदाता। क्षमावान्-क्षान्तियुक्तः। आर्यः-सज्जनः। निद्रालुः-बहुनिद्रः। दीर्घसूत्रः-चिरकारी। कृतं जानातीति कृतज्ञः। वैश्वदेवीवृत्तम्। ऋजुः-अकुटिलचित्तः। विपश्चित्-पण्डितः। सुभगो-जनप्रियः। (अरुणदत्त)

अतः जिसमें सौम्य आदि श्रेष्ठ गुण होंगे वह श्रद्धावान् भी होगा और श्रद्धावान् दान इत्यादि कर्म करेगा ही। श्रद्धावान् का यह स्वरूप बाद में पितृ इत्यादि के लिए किए जाने वाले श्राद्धकर्म के लिए योगरूढ़ हो गया। अष्टाङ्गहृदय छठी शताब्दी का ग्रन्थ है, उसमें आए हुए इस प्रसङ्ग से यह भी स्पष्ट होता है, कि श्राद्ध शब्द दान इत्यादि के रूप में उस समय भी प्रचलित था। दान के क्रम में ही पिण्डदान भी है, जिसे सभी आयुर्वेदीय संहिताओं ने सम्मान के साथ निर्दिष्ट किया है। अतः परम्परागत रूप में श्राद्ध की विधि उपनिषत्-काल में प्रचलित थी, जो कि ईसा के 1500 वर्ष के पहले का काल है। सम्भव है यह इससे भी पहले से प्रचलित था।

अष्टाङ्गहृदय में श्राद्ध शब्द दो स्थानों पर आया है और दोनों स्थानों में ही इसका अर्थ श्रद्धावान् स्वरूप में है। जहां दूसरी बार कल्पसिद्धिस्थान में इसका प्रयोग हुआ है वहां श्राद्ध का अर्थ विभिन्न स्थलों से वनस्पति के रूप में भेषज को श्रद्धापूर्वक ग्रहण करने का क्रम निर्दिष्ट है, यथा-अथ कल्याणचरितः श्राद्धः शुचिरुपोषितः। गृह्णीयादौषधं सुस्थं स्थितं काले च कल्पयेत्॥ (अष्टाङ्गहृदय. कल्पसिद्धिस्थान 6/5)। इसकी व्याख्या करते हुए अरुणदत्त कहते हैं कि-

श्राद्धः-भेषजहरणं प्रति श्रद्धावान्, तथा शुचिः-स्नानादिना शुद्धः तथोपोषितः-कृतोपवासः, एवंविधमौषधमेवंविधः पुमान् गृह्णीयात्। (अष्टाङ्गहृदय-कल्पसिद्धिस्थान 6/5 अरुणदत्त)

यहाँ यह भी स्पष्ट कहा गया है कि श्रद्धावान् व्यक्ति स्नान इत्यादि से शुद्ध होकर तथा उपवास किया हुआ होना चाहिए। अतः यह स्वतःसिद्ध है कि वह भेषज के लिए श्राद्ध करे (श्रद्धावान् बने) अथवा पितरों के लिए श्राद्ध

करे (श्रद्धावान् बने) उपर्युक्त विधि से शुद्ध होकर ही करे। जो श्राद्ध करने वाला व्यक्ति हो तो उसे पूर्ण रूप से शारीरिक और मानसिक रूप से शुद्ध होना चाहिए, यह किसी भी रूप में किया जाने वाला श्रेष्ठ विधान है।

अष्टाङ्गसंग्रह में भी श्लेषप्रकृति के गुणों का वर्णन करते हुए श्राद्ध शब्द का प्रयोग हुआ है, यथा-

अल्पव्याहारक्रोधपानाशनेहः, प्राज्यायुर्वित्तो दीर्घदर्शी वदान्यः।

श्राद्धो गम्भीरः स्थूललक्षः क्षमावानार्यो निद्रालुर्दीर्घसूत्रः कृतज्ञः। अष्टाङ्गसंग्रह शरीर 8/12

इसके व्याख्याकार इन्दु अपनी शशिलेखा नामक व्याख्या में कहते हैं कि- श्रद्धा विद्यते यस्य सः श्राद्धः।(शशिलेखा)। अतः जिस प्रकार से स्कन्दपुराण में कहा गया है कि श्रद्धा शब्द से श्राद्ध का प्रचलन हुआ उसी प्रकार से आयुर्वेद के व्याख्याकार भी अपने भाव प्रकट करते हैं। अतः श्राद्ध का स्वरूप प्राचीन है।

इसके अतिरिक्त आयुर्वेदीय संहिताओं एवं अन्य ग्रन्थों में पितरों से सम्बन्धित प्रसङ्ग विभिन्न स्थलों पर पर्याप्त मात्रा में निर्दिष्ट हैं। अतः श्रेष्ठ मनोभावों की अभिव्यक्ति एवं अपने पूर्वजों के प्रति श्रद्धाभाव प्रकट करने की दृष्टि से श्राद्ध करना जीवन में किए जाने वाले श्रेष्ठ कर्मों में से एक है, जो अनेक प्राणियों के पोषण एवं उनके प्रति सद्भाव प्रकट करने के लिए भी व्यक्ति को प्रेरित करता है। नास्तिक भावों की अभिव्यक्ति एवं उन्हें संसिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण हैं, लेकिन इस तरह के तर्क-वितर्क में कुतर्कपरक स्वरूप का अभिनिवेश नहीं किया जाना चाहिए। श्राद्ध को श्रद्धाभाव का एक श्रेष्ठ माध्यम मान कर हिंदूधर्म का अनुयायी सर्वदा एक वर्ष में एक नियत काल में श्राद्ध करता आया है और करता रहेगा। अतः आचार्य चरक के “पितृभ्यः पिण्डदः स्यात्” इस वाक्य को एक निर्देश के रूप में मानकर सर्वदा श्राद्ध करना ही चाहिए, पिण्डदान तो श्राद्ध का प्रधान उपक्रम है।